REVIEW OF RESEARCH

ISSN: 2249-894X
IMPACT FACTOR : 5.2331(UIF)
VOLUME - 7 | ISSUE - 1 | OCTOBER– 2017

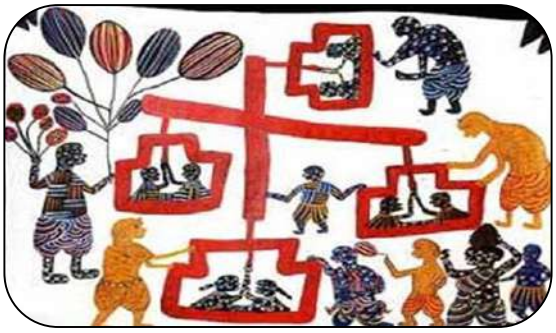

'हिंदी के स्वातंत्र्योत्तर आँचलिक उपन्यासों में चित्रित पहाडी जन-जातियों का सांस्कृतिक मूल्यांकन'

प्रा.डॉ. रामचंद्र मारूती लोंढे
क्रांतिसिंह नाना पाटील महाविद्यालय, वाळवा
ता. वाळवा, जि. सांगली .

समाज और संस्कृति का संबंध अनन्य साधारण रहा है। संस्कृति का आधार समाज है और समाज को नियंत्रित करनेवाली, संचलित करनेवाली संस्कृति है। जब समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में संस्कृति समर्थ नहीं होती तब उसमें विघटन होकर नवीन सांस्कृतिक मूल्यों का निर्माण होता हैं। समाज और संस्कृति का स्वरुप प्राचीन काल से रहा है। सांस्कृतिक आदर्श का व्यावहारिक रुप संस्कार है, जिसे व्यक्ति समाज के माध्यम से ग्रहण करता है। अत: साहित्य, समाज, संस्कार और संस्कृति एक दूसरे पर आश्रित है। डॉ. बी. डी. गुप्ता का विचार है- "साहित्य संपूर्ण संस्कृति का एक अंश है। संस्कृति ही सामाजिक संरचना और उसकी निर्मायक इकाइयों की प्रस्थिति एवं भूमिका को प्रतिमानित कर उन्हें व्यवस्थित एवं संतुलित रुप प्रदान करती है। ऐसी स्थिति में साहित्य एवं कला के महत्व को नकारा नहीं जा सकता है।[1] डॉ. मदन गोपाल के अणुसार मानव जीवन की संपूर्ण गतिविधीयों का संचालन अंतवृत्तियों की जिस समाष्टि द्वारा होता है तथा जिसके अपनाने से वह सच्चे अर्थों में मनुष्य बनने की दिशा में अग्रेसर होता है उसे संस्कृति कहते है।[2] अत: स्पष्ट है कि साहित्य समाज, संस्कार, संवाद और संस्कृति का संबंध परस्पर जुडा ही है। सांस्कृतिक परिवेश चाहे वह भौतिक हो, ग्रामीण हो व्यक्तित्व पर गहरी छाप रहती है। स्वातंत्र्योत्तर भारत का चित्रण आँचलिक उपन्यासों में हुआ है। "भारत का वास्तविक चित्र केवल महानगरीय या नागरीय उपन्यास के माध्यम से ही नहीं उतारा जा सकता। इस देश की आत्मा सुदुर पहाडों में बसे हुए पहाडी अँचल में तथा अभावग्रस्त गावों में निवास करती है।"[3]

स्वतंत्र्यता के बाद लिखे हुए उपन्यास ग्रामजीवन पहाडी जन-जीवन उनका परिवेश उनकी लोक संस्कृति तथा कहते है- " भारतीय संस्कृति का सच्चा तथा स्वाभाविक चित्र लोक साहित्स में उपलब्ध हैं। लोक संस्कृति के वास्तविक रुप को देखने के लिए हमें लोक साहित्य का अनुसंधान करना होगा।[4] रुढी – प्रथा, विवाह संस्कार, मृतक संस्कार आदि सभी आयामों पर प्रकाश डाला है। हिंदी के स्वातंत्र्योत्तर पहाडी आँचलिक उपन्यासों में भी यही सांस्कृतिक आयाम स्पष्ट होते है। यहाँ हम हिंदी के स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासों में चित्रित पहाडी जन-जातियों का सांस्कृतिक मूल्यांकन पर विचार करेंगें।

1) लोकगीत- 'लोकगीत' शब्द का अर्थ लोक में प्रचलित गीत, लोकनिर्मित गीत, लोकविषयक गीत होता है। लोक में प्रचलित गीत ही 'लोकगीत' होता है। लोकगीत किसी भी समय विशेष मात्र में प्रचलित होते है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कोई गीत कुछ समय के लिए लोक में बहुत प्रचलित हो जाता है। अर्थात यह प्रचलन अस्थायी होता है। कुछ समय उपरान्त वह समाप्त हो जाता है। ऐसे अत्यंत अस्थायी गीत लोक गीत के अंतर्गत नहीं आ सकेगें। लोकगीत वह प्रकार है, जिसको ऐसे किसी व्यक्ति से संबंधित किया जा सकता है। जिसकी मेधा लोकमानस की स्वाभाविक मेधा नहीं।

लोक गीतों में लोकवार्ता तत्व समाविष्ट होता है। ऐसे गीतों से भौगोलिक सामग्री का ज्ञान होता है। इसके माध्यम से लोग मनोरंजन के उपकरण जुटाते है। इससे लोक सांस्कृति से विविध चरण लक्षित होते है। लोक गीत एक ओर अपौरुषिक भी होते है। ऐसे गीत जिन्हें स्त्रिया भी गाती है। विविध अनुष्ठानों के अवसर पर ऐसे गीत गाये जाते है। केवल पुरुषों के लिए गाये जानेवाले लोकगीत भी होते है। दूसरी ओर इन्हें

स्त्री –पुरुष मिलकर भी सामुहिक रुप में गाते हैं। बच्चों के भी लोकगीत होते है। जिनमें अद्‌भूत कल्पनाशक्ति के दर्शन होते है।बालिकाओ के गीत भी अलग होते है।

ये गीत ऋतुओंके अनुकूल होते है। इसका संबंध मनुष्यों कामों और गतियों से रहता है। चक्की पीसते समय फसल काटते समय ऐसै गीत गाये जाते है। लोक गीत छोटे और लम्बे होते है। लम्बे गीतों में लम्बी कथा रहती है। धीरेंद्र वर्मा केअनुसार ''लोक गीतो में अत्यंत महत्वपूर्ण लोकाभिव्यक्ति मिलती है विदेशो में लोकगीत को अध्ययन बहूत आगे बढ गया हैं।''[5]

मानव जीवन का कोई ऐसा पक्ष नहीं है, जो लोकगीतों में व्यक्त नहीं हुआ। मानव के मातृगर्भ में स्थान पाने के साथ ही इन गीतों का आरंभ हो जाता है एवं अन्त उसकी मृत्यु के पश्चात होता है। ये लोग दीपावली के गीत, होली के गीत, हिडोंला पर्वत के गीत, देवी देवता के स्तुती के गीत, शिव पार्वती के गीत, नृत्य गीत, हल चलाते समय के गीत, प्रभात के तिन विवाह के गीत, शरीर गोंदते समय के गीत विरह गीत आदि विविध लोक गीत गाते है। आज फिल्मी गीतों का भी असर पहाडी लोकगीत पर हो रहा है।

लोकगीतों में मूल मानव बोलता है। इसमें युग-युग के बदलती बोलियाँ मुखरित होती है। इनके लोकगीतों में उनकी समस्त संस्कृति सामाजिक गतिविधियाँ और पहाडी अंचल की आत्मा बोलने लगती है। आलोच्च उपन्यासों में इन गीतों की अच्छी तरह से अभिव्यक्ति मिलती है। 'कब तक पुकारू' (1956) में विरह गीत, खुशियों मनाने के गीत, व्यवस्था के गीत, जंगल के फूल (1960) में पूजा के समय के, खेल खेलते समय के, हल चलाते समय के, शिकारी के समय के, ब्याह-बिदाई के समय के, दिवाली के समय के गीत आदि। इससे स्पष्ट होता है कि पहाडी जन जीवन के आनंदानुभूति एवं रसपूर्ण जीवन के ये गीत प्रतिक लगते हैं।

2) लोककथा - जो कथाएँ लोक मानस में प्रलंबित होती है लेकिन लिखित नहीं होती वह लोककथा कहलायी जाती है। लोकभाषा के माध्यम से सामान्य लोकजीवन में प्रचलित विश्वास आस्था और पंरपरा पर आधारित कथाएँ लोककथा के अंतर्गत आती है। शांति और अशांति के विभिन्न क्षणों में ये लोककथाएँ जनसमुदाय में स्फुर्ति एवं प्रेरणा का संचार करती है। डॉ. सरोज रोहतगी लोक कथा के बारे में लिखती है, ''लोक कथाओं में लोक जीवन की साधारण घटनाओ का अपनी भाषा में जैसा का तैसा वर्णन मिलता है। लोक कथा मानव जीवन में आनंद की लहरे निर्माण करने का काम करती है।

लोक कथाओं के बीज सर्व प्रथम वेदों में प्राप्त होते है। भारत में लोककथाओं का अनुभव सबसे प्राचीन है। संस्कृत साहित्य में बृहद कथा, पंचतंत्र, हितोपदेश, जातक, माला, पुरुष परीक्षा आदि कथा ग्रंथ है। लोक कहानी शब्द का प्रयोग अंग्रेजी 'फोक टेल' के पर्यायवाची रुप में होता है। अंग्रेजी में यह शब्द बहुत व्यापक अर्थ रखता है। और इसमें लोककथा, धर्मगाथा, पशुपक्षिओं की कहानियाँ नीतिकथाएँ आदि लोक प्रचलित वार्ताए सम्भिलित की जा सकती है।

डॉ. कृष्णकुमार शर्मा ने लोककथाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया है- देवी देवताओं की कथायें (2) नीति कथायें (3) ऐतिहासिक वीरों से संबंधित कथायें (4) कुतुहूल प्रधान कथायें (5) पौराणि कथायें (6) प्रेम कथायें आदि। लोककथाओं का वर्गीकरण 1) नीति कथा 2) व्रत कथा 3) प्रेम कथा 4) मनोरंजन कथा 5) दंतकथा 6) धर्म कथा 7) पौराणिक कथा आदि रहा है।

इसकी भाषा सरल एवं स्वाभाविक होती है। कृत्रिमता का सर्वत्र अभाव रहता है। लोककथाओं में प्राय: अमानवीय एवं अलौकीक तत्त्वों का समावेश होता है, अत: भूत प्रेत दानव, बोलनेवाले पेड आदि का भी वर्णन रहता हैं। प्रत्येक लोककथा का परम लक्ष्य सर्व कल्याण की भावना में निहित होता है। इसलिए लोककथा का पर्यवसान सदा सुख में होता है।''[8]

स्वातंत्र्योत्तर पहाडी आँचलिक उपन्यासों में लोककथाओं का स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। इन लोक कथाओं की लोकप्रियता ही इन उपन्यासों का आधार लगती है। पहाडी अशिक्षित जन-जीवन के माहौल में ये लोक कथायें मनोरंजन का प्रमुख साधन समझी जाती है। बुढे बुजुर्ग से ऐसी कथाएँ कही जाती है। खेती में काम करते समय, ढोर डंगरों को चराते समय इन लोक कथाओं का रोचक ढंग से प्रयोग किया जाता है। इन लोककथाओं का पहाडी जीवन से संपृक्त हुई एक रोचक विद्या मानी जाती है। हिंदी के अलोच्य उपन्यासों में लोककथा का अच्छा प्रयोग हुआ है, जिससे इन लोगों की सामाजिक धरोहर अधिक प्रभावी बन जाती है।

आलोच्य उपन्यासों में भूत-प्रेत-चुडैल-डायन की कथा, पर्वत-नदी-तालाब-नक्षत्र की कथा, इतिहास पुराण-राजा-राणी उत्सव पर्व संबंधित कथाएँ रही हैं। 'रथ के पहिऐ (1953) में करमानृत्य भीमसेन देवता की कथा सांप

की कथा 'कबतक पुकारू' (1959) राजा के विश्वासघात की कथा 'जंगल के फूल' (1960) में भूत-प्रेत की कथा जादू -टोना संबंधी कथा, दंतेश्वरी देवी की कथा, 'शैलूश' (1989) में रेवती नक्षत्र विवाह संबंधी कथा, आदि लोककथाएँ चित्रित हैं। आज पढ लिखा युवक इन लोक कथाओं पर अविश्वास दिखाता है। लोक कथाओं में इतिहास जीवन-दर्शन लक्षीत होता है। श्रीचंद्र जैन भील लोक कथा के बारे में कहते है, ''भारत के प्राचीन तम साहित्य में चित्रित भीलों की कथाएँ एक और ऐतिहासिकता को प्रतिध्वनित करती है तो दूसरी और भारतीय स्वतंत्रता के हेतु समर्पित बलिदानों के लिए प्रेरणा देती है।''[9] इससे स्पष्ट होता है कि लोक कथाएँ काल्पनिक नहीं बल्कि यथार्थ लगती है।

3. रूढी-परंपरा :

भारत में प्राचीन काल से रूढी-परंपराओं का बोल-बाला हैं। मोतीलाल गुप्तजी ने भारतीय सामाजिक संस्थाएँ इस किताब में लिखा है, ''आवश्यकताओं की पूर्ती के लिए व्यक्ति कुछ साधनों एवं आदतों को अपनाता है॥ यह आदत समाज व्दारा स्वीकृत होने पर जनरीति बनती है। जन रीति के साथ भूतकालीन अनुभव हो तो जनरीति प्रथा बनती है इसमें सामूहिक कल्याण की भावना हो तो वह रूढी का रूप लेती है। रूढीयों को ऐतिहासिक प्रश्रय होने के कारण इसके साथ बहुतसी अंधश्रध्दाएँ चलती आयी है। अत: रूढीयों के प्रति अनास्था प्रकट करने से धार्मिक विश्वासों को धक्का पहुँचता है। इसी कारण रूढियों का पालन धार्मिक अंधविश्वासों और सामाजिक दबावों के कारण होता आया है। भारत में धर्म, पंथ, जातिकाल, स्थान के अनुसार शादी, पुजा, विवाह-संस्कार, मृतक संस्कार से संबंधित प्रथाएँ प्रचलित है। लेकिन जब प्रथाएँ अपने निहित विचारों को छोडकर परंपरा का पालन करना यही नियम बनता है तब रूढी समाज के शोषण का कारण बनती है। डॉ. प्रभाकर मांडे के मतानुसार 'लोकसाहित्य सिर्फ शब्द बध्द वाङ्मय ही नहीं होता तो समाज में प्रचलित रूढीयों प्रथाओं आचार-विचारों इन सारी बातों का अध्ययन लोक साहित्य में होता है।''[10]

आलोच्य उपन्यासों में 'मृगनयनी' (1950) में लडकी का विवाह घर पर ही करने की प्रथा, 'वनलक्ष्मी' (1956) में हरजाना प्रथा, बलिप्रथा आदि। 'कब तक पुकारू' (1956) में लाश के सिरपर घी छोडने की प्रथा, 'सूरज किरण की छाँव' (1969) लमसेना प्रथा, 'जंगल के फूल' (1960) में दूध लौढाना, भगेला रखना, लमसेना बनाना शरीर गोंदना आदि प्रथाएँ परिलक्षित होती हैं।

रूढियों के पीछे उनका अज्ञान और अंध विश्वास ही रहा है। इनमें से कभी प्रथाएँ शोषण का आयाम बन रही है। उपन्यासकारों ने इसका वास्तविक चित्रण किया है।

4. विवाह संस्कार–

भारत देश की पहचान त्योहारों का देश इस प्रकार है। त्योहारों के मूल में धार्मिक भावना दिखाई देती है।'', जिस धार्मिक समारोह में लोगों को हर्ष, आनंद, और मन: प्रसाद की अनुभूति मिलती है उसे उत्सव कहा जाता है।''11 मनुष्य प्राणि को सामूहिक आनंद की प्राप्ती कराना, स्वास्थ्य देना, दु:ख-व्यथा से मुक्ति देना, मन को आनंद देना आदि उद्देश्यों के काराण् उत्सवों की प्रथा निर्माण हुई है। पितृपुजा, वीरपुजा, ग्रामदेवता की पूजा, खेती कर्म आदि से संबंधित उत्सव होते है। मानव का सामाजिक विकास उत्सवों के कारण होता हैं।

स्वातंत्र्योत्तर आँचलिक उपन्यासों में इस पर सोचा है। दीपावली, होली, मकर संक्राति, काकसार पर्व, थौल माता, बिदाई पर्व, लाडूकांज, नंदामैय्या का मेला, शिवपार्वती का मेला, जोगेश्वरी का मेला सोमनाथ का मेला, नवरात्र, रामनवमी, हेसू पर्व, कारसदेव पर्व आदि उत्सव पर्व पहाडी जन-जातियों में मनाया जाते हैं ।

विवेच्य उपन्यासों में 'मृग नयनी' (1950) में रंगपंचमी, और होली का, 'वनलक्ष्मी' (1956) में माघे पर्व का जंगल के फूल (1960) में लाडू काज पर्व, दीवारी, नुकानोरदाना पाण्डुम का, 'शैलूष' (1989) में नवराज और

रामनवमी का आदि मेलों का वर्णन मिलता हैं। डॉ. जयश्री बरहाटे के मतानुसार 'वैज्ञानिक दृष्टि के साथ-साथ बेरोजगारी, मँहगाई आदि बतों ने भी त्योहारों की उमंग को नष्टस कर दिया है।''12

पहाडियों के त्योहारों, पर्व की परंपरा जनजीवन की संस्कृति के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

5. विवाह संस्कार –

''जीवन को सुसंस्कृत बनाने के लिए जो सामाजिक विधान किये जाते हैं, उन्हे संस्कार कहते है।''[13] इससे स्पष्ट होता है कि विवाह और मृतक संस्कार भी विधान रहे है। मानव सामाजिक प्राणि होने के कारण काम-वासना पूर्ति एवं संतान प्राप्ति के लिए समाजमान्य पध्दति का स्वीकार करता हैं, वह पध्दति है विवाह संस्कार माना है। विवाह प्रथा पारिवारिक जीवन की आधार शीला है, जिसकी नीव सामाजिक और धार्मिक कानून रही हैं। हिंदू संस्कृति में इसे संस्कार माना है। प्राचीन युग में भारतीय समाज में विवाह को सोलह संस्कारों में से एक संस्कार माना है । अत: इसे तोडना अनैतिक माना है। लेकिन मुसलमान समाज में विवाह को समझौता मानकर तोडने की छूट दी है।

विवाह में कई प्रथाएँ रही है, हिमालय और हिमालय के उस पार जौनसार बाबर के वासियों में मातृ बहुपति प्रथा विद्यमान है। असम के कुकी जाती में लडका-लडकी के घर जाकर कुछ दिन रहता है, दोनों का स्वभाव अनुकूल होत जो विवाह होता है, यदि विच्छेद हो तो लडका-लडकी के माता-पिता को सोलह रू. मुआवजा देता है। तो गुजरात के भील में यदि कोई युवक युवती से आत्मीयता प्रदर्शित करता है, तो जनजाति के मुखिया उन्हें पति-पत्नी घोषित करते है। संथाल और मुंडा जनजातिमें वधू मूल्य की प्रथा है । जानवर, मुद्रा कपडा आदि के रूप में वधु-मूल्य दिया जाता है। इन जातियों में तलाक की समस्या कम है। तलाक देनेवाले स्त्री – पुरूषो को अधिक सामाजिक प्रतिष्ठा सन्मान नहीं मिलता''[14] आज विवाह संस्कार में परिवर्तन हो रहा हैं, साहित्य में इसके दर्शन भी हो रहे है।

हिंदी के स्वातंत्र्योत्तर आँचलिक उपन्यास में पहाडी जन-जातियों के विवाह संस्कार पर सोचा गया है, 'मृगनयनी' (1950) में विजातीय विवाह, 'वनलक्ष्मी' (1956) में पर जात विवाह, 'कब तक पुकारू' (1956) में बहु विवाह, बालविवाह, अन्तर्जातीय विवाह, 'जंगल के फूल' (1960) पर जात विवाह जाने कितनी आँखे (1981) में बाल विवाह, बहु विवाह, विधवा विवाह, जातिबाहय विवाह आदि विवाह के विविध आयामों के साथ आलोच्य उपन्यासों में पहाडी अँचल में स्थित विवाह संस्कार पर प्रकाश डाला गया हैं। पहाडी अंचलों में वंश वृध्दी, नारी सौंदर्य का आकर्षण, धन कमाना आदि के कारण विवाह संपन्न होते है। इसी कारण बहु विवाह, और अनमेल विवाह हो रहे हैं। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि पहाडी अंचलों में होनेवाले परिवर्तनों का असर उनके विवाह संस्कार पर स्पष्ट लक्षित होता है।

उपर्युक्त विवेचन विश्लेषण से स्पष्ट होता है कि आदिमों की विरासन पहाडी संस्कृति और उनके जीवन-मूल्यों की रक्षा करना भारतीय जनजीवन का परम कर्तव्य बन बैठा है। पहाडी लोगों का पाश्चात्य और नागरी संस्कृति के संपर्क में आने के कारण उनकी मूल चेतना दावादौल हो रही है। उपभोक्तावादी संस्कृति और सुविधाजन्य राजनीति के बीच आज का पहाडी जन-जीवन संक्रमित होता जा रहा हैं। ईसाई मशनरियों व्दारा धर्म प्रसार के कारण मूल आदिम और धर्म परिवर्तीत आदिमजनों के बीच सांप्रदायिकता की आग भडकने लगी हैं । मानव जीवन का ऐसा कोई पक्ष नहीं है, जो लोकगीतों में व्यक्त नहीं हुआ। मानव के मातृगर्भ में स्थान पाने के साथ ही इन गीतों का आरंभ हो जाता है। स्वातंत्र्योत्तर पहाडी आँचलिक उपन्यासों में लोक कथाओं का स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। इन लोक कथाओं की लोकप्रियता ही इन उपन्यासों का आधार लगती है। पहाडी अशिक्षित जन-जीवन के माहौल में ये लोककथाए मनोरंजन का प्रमुख साधन समझी जाती है। आलोच्य उपन्यासों में इस तत्व का अच्छा प्रयोग हुआ है। जिससे इन लोगों की सामाजिक धरोहर अधिक प्रभाव बन जाती है। वैज्ञानिक दृष्टि के साथ-साथ बेरोजगारी,

मँहगाई आदि बातों ने भी त्योंहारों की उमंग को नष्ट-सा कर दिया हैं । पहाडी अंचलों में स्थित जन जातियाँ अज्ञान, धार्मिक, अंधविश्वास के कारण रूढियों में अटकी है। इनमें रूढियों को ठुकराने की प्रवृत्ति लक्षित नहीं होती. पहाडी अचंलो में होनेवाले परिवर्तनों का असर उनके विवाह संस्कार पर स्पष्ट लक्षित होता है। यहाँ पति चुनने के अधिकार से युवतियाँ उपेक्षित रही है।

संदर्भ :

1. संपा. बी.डी. गुप्ता-साहित्य समाज शास्त्रीय समीक्षा, प्र.सं. संवत 2046 (बी.डी. गुप्त साहित्य: प्रकार्यवादी समीक्षा) सीता प्रकाशन हाथरस, पृ. 128.
2. डॉ. मदन गोपाल-मध्यकालीन हिंदी काव्य में भारतीय संस्कृति प्र.स. 1962 अनुसंधान, प्रकाशन कानपूर पृ. 307
3. डॉ. राजेन्द्र-कुमार स्वतांत्र्योत्तर हिंदी कहानी में ग्राम जीवन और संस्कृति प्र. सं. 1975 विवेक पबिलशिंग हाऊस, जयपूर पृ. 200
4. डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय-लोक साहित्य की भूमिका व्दितीय सं. 1970 साहित्य भवन लि. इलाहाबाद पृ. 292
5. धीरेन्द्र वर्मा- हिंदी साहितय कोश-भाग-1 व्दितीय सं. 2020 ज्ञान मंडल लिमिटेड वाराणसी, पृ. 750
6. डॉ. सरोजनी रोहतगी- अवधी का लोक साहित्य, प्र. सं. 1971 नेशनल पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली, पृ. 32
7. डॉ. कृष्णकुमार शर्मा, राजस्थानी लोकगाथा का अध्ययन प्र.स. 1972, राजस्थान प्रकाशन, जयपूर पृ. 09
8. डॉ. विद्या चव्हाण- लोक साहित्य प्र.सं. 1986 सरस्वती प्रकाशन, कानपुर पृ. 25
9. श्रीचंद्र जैन-बनवासी भील और उनकी संस्कृति प्र.स. 1974 रोशनलाल जैन अॅन्ड सन्स जयपूर पृ. 1-2
10. डॉ. प्रभाकर मान्डे- लोक साहित्याचे अंतप्रवाह प्र.स. 1975 कॉन्टिनेन्टल प्रकाशन, पुणे पृ. 01
11. संपा. महादेवशास्त्री जोशी- मुलांचा संस्कृति कोश प्रथम खंड, 1984 भारतीय संस्कृति कोश मंडल, पुणे पृ. 185
12. जयश्री बरहाटे: हिंदी उपन्यास-सातवा दशक, प्र.स. 1988 संचयनी प्रकाशन, कानपुर, पृ. 36-37.
13. डॉ. एन.डी. पुरोहित, हिमाचली लोकरंग प्र.स. 1986 साहित्य प्रकाशन दिल्ली, पृ. 69.
14. डी.एम. मजूमदार, भारतीय जनसंस्कृति व्दितीय सं. 1988-अपाला प्रकाशन, मुद्रण सहकारी समिती, लि-लखनऊ पृ. 71.